

उपनिषदों में आगत प्रमुख वाक्यों की उपादेयता

डॉ. प्रमोद कुमार सिंह*

उपनिषद् शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु में 'क्विप्' प्रत्यय लगाने से निपन्न होता है^१। जिसके विशरण, गति और अवसान ये तीन अर्थ शाङ्करभाष्य में बताये गये हैं-

“सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसानार्थस्योपनिपूर्वस्यक्विप्रत्ययान्तस्य रूपमिदमुपनिषदिति”^२।

उपनिषद् को ब्रह्मविद्या का पर्याय अथवा ब्रह्मविद्या का साधन माना जाता है-

“उपनिषद्यते ब्रह्मविद्या अनया इति उपनिषद्”^३।

अभिप्राय यह है कि जो ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का साधन है, वही उपनिषद् है। ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त अमरकोश आदि ग्रन्थों में उपनिषद् का अर्थ रहस्य अथवा गोपनीय विद्या भी बताया गया है^४। इस प्रकार सामान्यरूप में यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'ब्रह्मविद्या' का प्रतिपादक अथवा 'रहस्यमयी ज्ञान' का आख्यान करने वाले ग्रन्थ ही उपनिषद् हैं।

उपनिषदों की संख्या का निश्चित निर्धारण नहीं है तथापि मुक्तिकोपनिषद् में उल्लिखित १०८ की संख्या को सर्वाधिक स्वीकार्यता मिली है^५। इन १०८ उपनिषदों में १० अत्यन्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं-

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्य-तित्तिरः।

ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा^६॥

उपनिषद् भारतीय ज्ञान-विज्ञान, धर्म-दर्शन एवं विविध कोश-कलाग्रन्थों इत्यादि का आकर एवं आधार ग्रन्थ है। यद्यपि उपनिषदों में मुख्यरूप से ब्रह्मविद्या या आत्मतत्त्व का ही प्रतिपादन है तथापि इसमें विभिन्न नियमों के नियमन के साथ-२ मानवजीवन से जुड़े हर पहलुओं व परिस्थितियों से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान का उपादान भी विद्यमान है। अनेकानेक नैतिक नियमों से निबद्ध, सामाजिक संवेदनाओं से संबद्ध और उत्प्रेरक उद्गावनाओं से अभीभूत उपनिषद् वे महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, जिसमें प्राणिमात्र के कल्याण एवं विकास की कामना की गयी है। मानवजाति को कर्तव्यपथ पर अग्रसर करने वाले, सदसद्विवेक बुद्धि को उत्पन्न करने वाले तथा शाश्वत सत्य का प्रतिपादन करने वाले उपनिषदों की उपयोगिता बहु-आयामी एवं अभिव्यापक है। उपनिषद् ऐसे पावन, पुनीत एवं प्रेरक प्रकाश-पुञ्ज है, जिसमें सम्पूर्ण मानवजाति का वास्तविक विकास प्रदर्शित है। वस्तुतः मोहमायावच्छिन्न मानवों के सकल-मल का प्रक्षालन करने वाले उपनिषद् वह ज्ञानगंगा हैं, जिसमें गोता लगाकर कोई भी मनुष्य गगनतुल्य नैतिकता प्राप्त करते हुये प्रज्ञावान पुरुष बनकर शाश्वत सुख या मोक्ष को अङ्गीकार कर सकता है।

उपनिषद् ज्ञान-विज्ञान, धर्म-दर्शन, कर्म-भक्ति इत्यादि के तात्त्विक व यथार्थ स्वरूप निर्धारण का साधन एवं लौकिक व पारलौकिक ज्ञान के अक्षय एवं अक्षुण्ण भण्डार हैं। प्राचीन

*सहायक प्राध्यापक मैत्रेयी महाविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय) चाणक्यपुरी, नई दिल्ली-११०००७

महात्माओं एवं ऋषियों के तपस्याओं के प्रतिफल उपनिषदों की उपादेयता तत्काल से लेकर अद्यावधिपर्यन्त यथावत है। इन उपनिषदों में ऐसे अनेक वाक्य हैं जो मोह-माया-विपत्ति से सन्नस्त मनुष्यों के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। प्रस्तुत शोधपत्र उपनिषदों में आगत कुछ प्रमुख वाक्यों की उपादेयता का यत्किंचित् अन्वेषण का एक प्रयास मात्र है। ध्यातव्य यह भी है कि प्रमुख वाक्यों से अभिप्राय यह कतई नहीं है कि जिन वाक्यों का उल्लेख यहां किया गया है, केवल वही बस प्रमुख वाक्य हैं। वस्तुतः उपनिषदों में आया कोई भी वाक्य हो, वह निःसन्देह प्रमुख ही है। किन्तु शोधपत्र की मर्यादा हेतु जिनका प्रस्तुतीकरण यहां किया गया है, वही प्रमुख पद से अभिप्रेत हैं।

१. अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो - प्रस्तुत मन्त्र कठोपनिषद् से सम्बन्धित है^७। इसका अर्थ है - यह (आत्मा) जन्मरहित, नित्य, शाश्वत तथा पुरातन है। मन्त्र का मुख्य अभिप्राय यह है कि आत्मा न कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है अपितु यह नित्य, शाश्वत और प्राचीन है। इसी बात को भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में बताया है कि यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता^८। स्पष्ट है कि अविनाशी एवं सर्वकालिक सत्ता का नाम ही आत्मा है। यदि इस तथ्य को भलीभांति समझ लिया जाए तो निश्चय ही मानव अपने अधिकांश दुःखों से मुक्त हो जायेगा। क्योंकि मनुष्य का अपने शरीर के प्रति मोह ही उसे दुःखी करता है। जबकि आत्मा के अतिरिक्त वस्तुतः शरीर की सत्ता तो है ही नहीं। जब शरीर की सत्ता है ही नहीं तो उसके प्रति मोह भी निरर्थक है। यही नहीं यदि मनुष्य इस बात को अच्छी तरह समझ ले कि आत्मा त्रैकालिक रूप से अविनाशी है तो वह बुरे कर्मों को करने से भी बच जायेगा क्योंकि ऐसी स्थिति में उसे यह पता होगा कि वह जो भी कर्म करेगा, उसका फल भी उसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा। उसकी आत्मा नित्य है तो कर्मों का फल प्राप्त होने में हो सकता है कि देर हो, किन्तु फल तो मिलना ही है। अतः वह शुभकर्मों को ही करना चाहेगा जिससे उसे फल भी शुभ या सुखद मिलें।

२. सर्वं खलु इदं ब्रह्म - प्रस्तुत मन्त्र का सम्बन्ध छान्दोग्योपनिषद् से है^९। इसका अर्थ है - दृश्यमान जगत् में जो जो भी दिखाई देता है, वह सब ब्रह्म है। इसमें ब्रह्मतत्त्व की विभुता वर्णित है। अभिप्राय यह है कि शरीर के अन्दर भी ब्रह्म है और बाहर भी। मृत्यु के उपरान्त आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है। यदि इस तथ्य को भली भांति समझ लिया जाय तो जो भी सांसारिक द्वन्द्व हैं यथा - सुख-सुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण इत्यादि से मानव जीवित अवस्था में भी प्रभावित हुए बिना रह सकता है। वस्तुतः ये द्वन्द्व ही मनुष्य के समस्त दुःखों के कारण हैं। इनकी अनुभूति के कारण ही वह सदा पीड़ा और कष्ट का अनुभव करता है। यदि उसे यह बात समझ में आ जाए कि आत्मतत्त्व शरीर से पृथक् उस परब्रह्म परमात्मा का अंश है और उसे अन्ततः उसमें ही जाकर विलीन हो जाना है तो निःसन्देह वह समस्त प्रकार के द्वन्द्वों एवं कठिनाइयों को सरलता से सहन कर लेगा तथा इनके कारण प्राप्त होने वाले दुःखों को सहने की सामर्थ्य भी उसे मिल जायेगी।

३. आत्मैवेदं सर्वम् - प्रस्तुत वाक्य छान्दोग्योपनिषद् से अवतरित है^{१०}। इसका अर्थ है - यह सब कुछ आत्मा ही है। अभिप्राय यह है कि सकल चराचर संसार में सर्वत्र आत्मा ही व्याप्त है। भेद, अभेद, भेदाभेद इत्यादि मत वस्तुतः एकाङ्की ही हैं। क्योंकि समस्त संसार अविनाशी, विभु एवं सर्वव्यापक परमात्मा के अंश आत्मा से व्याप्त है। परमात्मा का अंश होने से संसार में व्याप्त समस्त आत्मतत्त्व में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है और न ही आत्मा का परमात्मा से ही भेद या विभिन्नता है। जिस प्रकार लकड़ी से बना मेज का अपने आधार तत्त्व लकड़ी से कोई वास्तविक भेद नहीं होता है, उसी प्रकार परमात्मा या ब्रह्म तत्त्व से आविर्भूत समस्त आत्मतत्त्व का ब्रह्म से कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। यदि इस तथ्य को स्वीकार कर लिया जाए तो दर्शनक्षेत्र में विभिन्न दर्शनों में प्राप्त होने वाले आत्मा-परमात्मा-ब्रह्म सम्बन्धी समस्त मतभेदों का निराकरण हो सकता है।

४. अयमात्मा ब्रह्म - यह वाक्य बृहदारण्यकोपनिषद् से लिया गया है^{११}। इस वाक्य में जीवात्मा और परब्रह्म की एकरूपता का वर्णन किया गया है। वाक्य का अभिप्रायार्थ यही है कि यह आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यह उस ब्रह्म का ही अंश है जो अन्ततः उसी में जाकर विलीन हो जाता है। किन्तु माया के वशीभूत होकर यह आत्मा शरीर से अपना ऐक्य स्थापित कर लेता है। भौतिक शरीर को ही वह अपना वास्तविक स्वरूप समझने लगता है। जिससे वह बन्धनग्रस्त हो जाता है तथा उन समस्त विकारों से युक्त भी हो जाता है, जो इस अज्ञानता के कारण उत्पन्न हो सकते हैं। शरीर को अपना स्वरूप मानने के कारण उसके अन्दर कामना का अविर्भाव होता है। कामना के आगमन से क्रोध का उदय होता है। क्रोध उत्पन्न होने से उसकी बुद्धि भ्रमित हो जाती है और बुद्धि के भ्रमित होते ही वह समस्त कर्तव्यों का अनुभव करने लगता है और अज्ञानोपहित होकर विविध पीड़ाओं का अनुभव करते हुए भवसागर में फंसा रहता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है कि क्रोध से अविवेक उत्पन्न होता है। अविवेक से स्मृति का नाश होता है। स्मृति के नाश होने से सदुपदेश लुप्त हो जाते हैं और मनुष्य बुद्धिहीन हो जाता है। बुद्धि का नाश हो जाने पर मनुष्य भी नाश हो जाता है क्योंकि बुद्धिपूर्ण आचरण ही मनुष्यता की निशानी है-

क्रोधात् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति^{१२}।।

शरीर और आत्मा के पार्थक्य का ज्ञान कराने वाले प्रस्तुत वाक्य के निहितार्थ को समझकर मनुष्य निःसन्देह विविध पीड़ाओं और पापाचरण से बच सकता है।

५. अहं ब्रह्मास्मि - प्रस्तुत महावाक्य छान्दोग्योपनिषद् में प्राप्त होता है^{१३}। जिसका अर्थ है - 'मैं ही ब्रह्म हूँ'। यह वाक्य सुनने में जितना छोटा है अभिप्राय और ज्ञान की दृष्टि से उतना ही व्यापक और महत्त्वपूर्ण है। 'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस वाक्य में बहुत ही सरल शब्दों में सम्पूर्ण उपनिषदों के सार को समाहित कर दिया गया है। इसकी यथार्थता का अवबोध होने से निःसन्देह मनुष्य समस्त भव-बाधाओं से परे आनन्दावस्थावस्थित ब्रह्माकार हो जाता है। वह समस्त प्रकार

के लोभ, मोह और माया से रहित होकर ब्रह्म में विचरण करता हुआ इस संसार में ही दिव्यानन्द की अनुभूति करने लगता है। मनुष्य की अभिलाषाएं या इच्छाएं ही उसे अनेक प्रकार के कष्टप्रद वस्तुओं की ओर आकृष्ट करती हैं। जिसे वह आनन्दमय मानकर आकृष्ट होता है, वह वास्तव में आनन्दप्रद न होकर कष्टप्रद ही होती हैं। अतः आनन्द की प्राप्ति हेतु वस्तु के प्रति आकृष्ट मनुष्य दुःखानुभव ही प्राप्त करता है। क्योंकि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप तो ब्रह्ममय ही है। अतः वह जब अपने आपको इन तुच्छ वस्तुओं की अभिलाषाओं से पृथक कर ब्रह्म प्राप्ति हेतु अग्रसर होता है तभी उसे वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होती है।

६. तत्त्वमसि - छान्दोग्योपनिषद् से गृहीत^{१४} इस उपनिषद् वाक्य का मतलब है कि 'तुम ही परब्रह्म हो।' जब मनुष्य इस प्रकार मोह माया में फंसा होता है कि उसे सदसद् का बिल्कुल भी भान न हो और वह इस नश्वर संसार से ही एकाकार होकर विचरण कर रहा हो तो उसे वास्तविक ज्ञान का अवबोध इस महावाक्य के द्वारा ही कराया जा सकता है। मनुष्य का स्वभाव ही होता है सरलता से आनन्द की प्राप्ति करना। यही कारण है कि वह इस संसार की वस्तुओं में ही सच्चे आनन्द का अन्वेष्टण करता है और वह इसमें इस तरह से संलग्न हो जाता है कि वहां से वह बाहर कथमपि नहीं निकल सकता है, ठीक उसी प्रकार जैसे मिट्टी के दलदल में गिरा हुआ सिंह उससे बिना किसी अन्य के सहयोग से कथमपि बाहर नहीं निकल सकता है। वह जितना प्रयास करता है बाहर निकलने का उतना ही दलदल में समाहित होता चला जाता है। ठीक यही बात अज्ञान से युक्त सांसारिकता में रत मनुष्य के साथ भी घटित होती है। वह जितना कोशिश करता है इस संसार की वस्तुओं से आनन्द प्राप्त करने का वह उतना ही दुःखों में आबद्ध होता चला जाता है। क्योंकि सांसारिक वस्तुओं का वास्तविक स्वभाव ही दुःखों की उत्पत्ति कराना है। इन वस्तुओं की ओर आकृष्ट मनुष्य अन्ततः एक ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है, जहां दुःखों का अम्बार होता है। वहां से वह अब चाहकर भी वापिस नहीं लौट सकता। ऐसी स्थिति में किसी अच्छे गुरु या सच्चे पथ-प्रदर्शक द्वारा ही वह इस मोहजनित दुःखपड़क से बाहर निकलने में समर्थ हो सकता है। इस वाक्य के द्वारा उसे बोध कराया जाता है कि हे मानव! तुम्हारा वास्तविक स्वरूप तो ब्रह्म ही है अर्थात् तुम ब्रह्म के ही अंश हो। अज्ञानवश तुम इस सांसारिक दुःखों में आबद्ध हो गये हो। तुम जिसे सुख समझकर आकृष्ट होते चले गये, वह वास्तव में दुःखों का पहाड़ है। सच्चा सुख तो तुम्हें तभी प्राप्त हो सकता है, जब तुम उस ब्रह्म से एकाकार प्राप्त कर लोगे।

७. जिजीविषीच्छतं समाः - प्रस्तुत वाक्य इशोपनिषद् से गृहीत है^{१५}। इसका अभिप्राय है सौ वषों तक जीने की अभिलाषा करना। इस मन्त्रांश का पौर्वापर्व सम्बन्ध के आधार पर यह अर्थ है कि कर्म करते हुए मनुष्य को सौ वषों तक जीने की अभिलाषा करनी चाहिए। बहुत ही स्पष्ट शब्दों में इस मन्त्र के माध्यम से यह बतलाया गया है कि मनुष्य को कर्मण्य होना चाहिए। अकर्म या आलस्य वाला नहीं होना चाहिए। निर्धारित यथोचित कर्मों को करना ही नहीं अपितु उसे सौ साल जीने की अभिलाषा भी करनी चाहिए। बहुत बड़ी बात इस मन्त्र में वर्णित

है। आज के दौर में सर्वत्र निराशा एवं दुःखों का साम्राज्य ही दिखलायी पड़ता है। प्रायः हर मनु"य किसी न किसी कारण से निराश और अवसादग्रस्त नज़र आता है। फलतः दुःखी भी है वह। परिणामतः आज प्रायः खुदकुशी जैसी घटनाएं सुनी और देखी जाती हैं। यदि मानव अपने आप को इस मन्त्र से प्रेरित करे, तो निःसन्देह वह हताशा या निराशा के भाव से मुक्त हो सकता है। और अगर वह निराश और हताश नहीं होगा तो खुदकुशी जैसे दु"कर कार्यों को भी नहीं करेगा। प्रस्तुत वाक्य का सीधा सा मतलब यह है कि मनु"य को सिर्फ कर्म करना चाहिए। साथ ही उससे उसे चाहे दुःख मिले या सुख, हानि हो या लाभ, हर परिस्थिति को स्वीकार आगे बढ़ते रहना चाहिए। और प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित चार आश्रमों वाले १०० साल के जीवन को पूरा करने की इच्छा करनी चाहिए। यदि वह आश्रमानुसार निर्धारित सद्कर्मों को करते हुए आगे बढ़ता है, तो निःसन्देह अन्ततः वह मनु"य के परमपुरु"ार्थ मोक्ष को अङ्गीकार कर पायेगा।

८. तरति शोकमात्मवित् - छान्दोग्योपनि"िद् में अवस्थित^{१६} प्रस्तुत वाक्य का अर्थ है- आत्मवित् शोकमय संसार से मुक्त हो जाता है। अर्थात् जिसने भी आत्मा का साक्षात्कार कर लिया वह इस संसार के दुःखों से मुक्त होकर शाश्वत सुख को अङ्गीकार कर लेता है। इसीलिए उपनि"िदों में आत्मा का साक्षात्कार करने पर विशेष"ि बल दिया गया है^{१७}। क्योंकि आत्मा का साक्षात्कार होने पर ही परमात्मा या ब्रह्म का साक्षात्कार संभव है। वस्तुतः आत्मा ही परमात्मा के साक्षात्कार या प्राप्ति का साधन है। जब तक आत्मा का ज्ञान मनु"य को नहीं होगा तब तक वह परमात्मा का भी ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है। और परमात्मा के ज्ञान के बिना मोक्ष या शाश्वत सुख की प्राप्ति हो ही नहीं सकती है। इस प्रकार स्प"ट है कि मनु"य अपने परम पुरु"ार्थ अर्थात् मोक्ष को तभी प्राप्त कर सकता है, जब वह अपनी अन्तरात्मा का साक्षात्कार कर ले। सरल शब्दों में कहें तो आत्मज्ञान ही परमात्मज्ञानोत्पन्न मोक्ष की प्राप्ति का प्रथम सोपान है।

९. न जीवो भ्रियते- यह वाक्य भी छान्दोग्योपनि"िद् का है^{१८}। इसमें अति महत्त्वपूर्ण तथ्य को अत्यन्त सरलता से समझाया गया है। वाक्य का अभिप्राय यह है कि जीव मरता नहीं। अर्थात् जीव से रहित हुआ यह शरीर ही मरता है। यहां जीव शब्द आत्मा का द्योतक है। आत्मा का कभी भी नाश नहीं होता है। कठोपनि"िद् में भी इसी तरह का एक मन्त्र है, जिसमें यह बताया गया है कि विपश्चित् किसी भी काल में न तो जन्म लेता है न ही किसी काल में उसकी मृत्यु होती है। वह न तो कभी जन्मा है, न जन्म लेता है और न जन्म लेगा। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत तथा पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर वह मारा नहीं जाता है-

न जायते भ्रियते वा विपश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे^{१९}।।

इस तथ्य को भलीभांति समझ लेने के पश्चात् मनु"य हानि-लाभ, सुख-दुःख, शीत-उ"ण इत्यादि द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। जब उसे इस सत्य का ज्ञान हो जाता है कि उसके विनाशी शरीर में विद्यमान तत्व अविनाशी है तब उसे किसी भी तरह का कोई शोक नहीं होता है। वह संसार में रहते हुए भी समस्त प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है।

नि"कर्ण

उपर्युक्त वाक्यों को निदर्शन मात्र के लिए ही प्रस्तुत किया गया है। इनके अतिरिक्त अनेकानेक अन्य महनीय वाक्य हैं जिनमें लौकिक-पारलौकिक, सांसारिक-पारमार्थिक ज्ञान विज्ञानों के अक्षय स्रोत सन्निहित हैं। अतः संक्षिपरूप में यह कहा जा सकता है कि उपनि"िदों में मनु"य के जीवन से जुड़े हर पहलुओं से सम्बन्धित सद्ज्ञानों का अद्भुत व अनुपम समन्वय है। आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर, ज्ञान, भक्ति, कर्म, तनाव इत्यादि विभिन्न प्रकार के मानवोपयोगी ज्ञानों द्वारा मानवजीवन को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने वाले एवं सकल भव-बाधाओं से पार कराने वाले उपनि"िद् वह ज्ञानगङ्गा हैं, जिसमें गोता लगाकर कोई भी मनु"य समस्त सांसारिकबन्धनों, क"टों, कठिनाइयों, भवबाधाओं से परे होकर परमपुरु"ार्थ मोक्ष को अङ्गीकार कर सकता है।

सन्दर्भ-सङ्केत

1. आपटे, बामन शिवराम, संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ.-२०६
2. शर्मा, राम रङ्ग,(व्या.)कठोपनि"िद्, भ. भाग-प
3. बोधरा, अनीता सुधीर, उपनि"िदोका जैनतत्त्वज्ञान पर प्रभावरूपक समीक्षा, पृ.-४
4. वही, भ. भाग-प
5. [http://hi.brajdiscovery.org/index.php?title=उपनि"िद](http://hi.brajdiscovery.org/index.php?title=उपनि)
6. मुक्तिकोपनि"िद्, १/३०कठोपनि"िद्, १/२/१८
8. न जायते भ्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। - श्रीमद्भगवद्गीता, २/२०
9. छान्दोग्योपनि"िद्, ३/१४/१
10. छान्दोग्योपनि"िद्, ७/२५/२
11. बृहदारण्यकोपनि"िद्, २/५/१६
12. श्रीमद्भगवद्गीता, २/६३
13. छान्दोग्योपनि"िद्, १/४/१०
14. छान्दोग्योपनि"िद्, ६/८/७
15. ईशावास्योपनि"िद्, मन्त्र-२
16. छान्दोग्योपनि"िद्, ७/१/३
17. आत्मा वाऽरे द्रभटव्यः श्रोतव्योमन्तव्योनिदिध्यासितव्यः- बृहदारण्यकोपनि"िद्, २/४/५
18. छान्दोग्योपनि"िद्, ६/११/३
19. कठोपनि"िद्, १/२/१८
